अब्धि र्नदैश्चानल इन्धनौघै-स्तृप्तः सुधाशीलमटेद्विषोऽपि।
आरोहितोऽसौ भुवि पङ्गुनाद्रि-र्योगान्न तृप्तोऽस्ति धनेन लोभी।।

हो सकता है जलधि तृप्त वह शत-शत सरिता नदियन से।
तथा जहर भी सुधा सरस हो अनल तृप्त हो इन्धन से।।
पंगू भी वह दैवयोग से गिरि चढ़ सकता संभव है।
किन्तु तृप्ति लोभी की धन से कभी न होना सम्भव है।।४६।।

अर्थ – समुद्र नदियों से और आग ईंधन के समूहों से संतुष्ट हो सकता है। विष अमृत के स्वभाव को प्राप्त हो सकता है और पृथ्वी पर लूले मनुष्य के द्वारा पर्वत चढ़ा जा सकता है परन्तु लोभी मनुष्य धन के योग से संतुष्ट नहीं हो सकता।।४६।।

मनोबलं तद् गुरु मुक्तिमार्गे, वचोबलं वापि ततो लघु स्यात्।
लघिष्ठमस्त्यङ्गबलं, धनं धिक तद् वस्तुतोऽस्मिन् न हि किंचिदस्ति।।

रहा मनोबल मुक्ति-मार्ग में साधकतम है गुरुतम है।
तथा वचन बल तरतमता से आवश्यक है कुछ कम है।।
तन बल तो बस रहा सहायक निश्चय के वह साथ सही।
किन्तु सुनो ! तुम मुक्तिमार्ग में धनबल का कुछ हाथ नहीं।।४७।।

अर्थ – मोक्षमार्ग में मनोबल श्रेष्ठ है, वचन बल भी उससे कुछ कम श्रेष्ठ है और शरीर बल सबसे लघु है परन्तु धन को धिक्कार है क्योंकि वह यथार्थतः मोक्षमार्ग में कुछ भी नहीं है।।४७।।

पापं वपुर्जं त्वणुकप्रमाणं, वाक्कायजं यच्च ततोऽधिकं वा।
चित्तस्य कार्यं तु सुमेरुमानं,पापान्मनोऽतोऽस्तु सदा सुदूरम्।।

पापार्जन तन मन वच से हो पाप तनक ही तन से हो।
विदित रहे यह सब को, तनसे पाप अधिक वाचन से हो।।
कहूँ कहां तक मन की स्थिति मैं पाप मेरु सम मन से हो।
करें नियंत्रण मन को हम सब धर्म कार्य बस। मन से हो।।४८।।

अर्थ – शरीर से होने वाला पाप अणुप्रमाण है, वचन और शरीर से होने वाला पाप उससे अधिक है और मन से होने वाला पाप सुमेरुप्रमाण है – सबसे अधिक है इसलिये पाप से मन सदा दूर रहे।।४८।।

दानेन भोगी भुवि शोभते स, ध्यानेन शस्तेन तथा सयोगी।।
निःसंग-पात्रस्तु निरीहवृत्त्या, चेहा प्रतोली नरकस्य वोक्ता।।

दान धर्म में रत होने से शोभा पाता वह भोगी।
ध्यान कर्म में रत होने से शोभा पाता यह योगी।।
पात्र बना है निरीह बनना गुण माना है जिनवर ने।
नरक द्वार है इच्छा-ज्वाला हमें कहा है ऋषिवर ने।।४९।।

अर्थ – पृथ्वी पर भोगी मनुष्य दान से, योगी प्रशस्त ध्यान से और निर्ग्रन्थ मुनि निःस्पृह वृत्ति से सुशोभित होता है, क्योंकि स्पृहा–वाञ्छा नरक के प्रमुखद्वार के समान कही गई है।।४९।।

सागारको वाप्यनगारको वा, कर्मक्षयार्थं निरतोऽस्तु धर्मे।
करोतु कार्यं कृषकः स कार्ष्यं, धान्याय शस्यं न तृणाय हास्यम्।।

कृषक कृषी का कार्य करे वह ध्येय धान्य का लाभ रहा।
किन्तु घास का ध्येय रहा तो हास्य पात्र वह आप रहा।।
संग सहित-सागारी हो या संग रहित-अनगारी हो।
भवक्षय करने धर्मनिरत हो शिवसुख के अधिकारी हो।।५०।।

अर्थ – सागार हो चाहे अनगार, उसे कर्मक्षय के लिये ही धर्म में लीन होना चाहिये (भोगोपभोग प्राप्ति के लिये नहीं) क्योंकि किसान खेती का कार्य अन्न के लिये करता है तो प्रशस्त है और घास के लिये करता है तो हास्य–उपहास का पात्र होता है।।५०।।

पात्राय देयं विधिना प्रदाय, फलं प्रति स्याद् यदि यो निरीहः।
सदा स दातास्तु सतां मतोऽस्ति, सुखाय वै भागुभयत्र कीर्तेः।।५१।।

यथाशक्ति और तथाभक्ति से दान पात्र को दे दाता।
फल के प्रति यदि किसी तरह भी मन में लालच नहिं लाता।।
वही रहा है प्रशस्त दाता, बुध-मत हमको बतलाता।
कीर्ति फैलती जग में उसकी सुख पाता शाश्वत साता।।५१।।

अर्थ – योग्य पात्र के लिये विधिपूर्वक दान देना चाहिये और देकर यदि फल के प्रति निःस्पृह रहता है तो वह दाता सत्पुरुषों से समादृत होता है, उसका वह दान सुख के लिये होता है और वह दाता दोनों लोकों में कीर्ति का भाजन होता है।।५१।।

दानं प्रशस्तं विनयेन साकं, नम्रो हि दाता बुधसेवितोऽस्तु।
सुपीतदुग्धं स वमन् सुतोऽपि, जनीं समानां न मुदा प्रपश्येत्।।

सही दान बस वही कहाता विनय-भाव से घुला हुआ।
दाता पूजित बुध जन से हो नम्र-भाव में ढला हुआ।।
दुग्ध पान करके भी बालक तुरत वमन वह कर लेता।
मानवती माता के मुख को मुड़कर भी नहिं लख लेता।।५२।।

अर्थ – विनय के साथ दिया हुआ दान अच्छा होता है, क्योंकि विनम्र दाता ज्ञानिजनों से सेवित होता है। अच्छी तरह पिये दूध को उगलता हुआ शिशु भी मानिनी माता को हर्ष से नहीं देखता है।।५२।।

चिन्तातुरोऽजस्रमयं ह्यगारी द्विवल्लभो हा मरणं तथास्तु।
परस्परं धारितवैरभावैः, शिष्यैर्गुरुः संयतकस्तथास्तु।।

चिन्ताओं से घिरा रहेगा आजीवन दिन रैन वही।
दो दो नारी जिसकी होती गृही जिसे सुख-चैन नहीं।।
लगभग वैसा गुरु संयत भी चिंतित रहता खेद रहा।
जिसके शिष्यों में आपस में वैर भाव मन-भेद रहा।।५३।।

अर्थ – निश्चय से यह गृहस्थ निरन्तर चिन्ता से दुःखी रहता है। फिर दो पत्नी वाला गृहस्थ हो तो उसका मानो मरण ही है। इसी प्रकार परस्पर वैर रखने वाले शिष्यों से संयमी गुरु भी निरन्तर चिन्ता से दुःखी रहता है।।५३।।

व्रतेषु शीलं च दमो दमेषु, खानां वरोऽयं रसनेन्द्रियस्य।
दानं तु दानेष्वभयाह्वयं वै, धर्मेषु धर्मो गदितोऽप्यहिंसा।।

महाव्रतों में महा रहा है मुनियों का व्रत शील रहा।
इन्द्रियविषयों में रसना का विजय मुख्य सुखझील रहा।।
सब दानों में अभय-दान ही श्रेष्ठ रहा वरदान रहा।
सब धर्मो में धर्म-अहिंसा मान्य रहा मन मान रहा।।५४।।

अर्थ – व्रतों में शील–ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, दमन में इन्द्रियों का दमन, उसमें भी रसनेन्द्रिय का दमन श्रेष्ठ है, दानों में अभयदान श्रेष्ठ है और धर्मो में अहिंसाधर्म श्रेष्ठ कहा गया है।।५४।।

ध्यानेषु शुक्लं च तपस्सु सत्सु, ध्यानं निधानं स्वनिधेः प्रधानम्।
विसर्जनं तद्, मधुरस्य सम्दिः, शलाघ्यं रसेषु प्रथमं प्रणीतम्।।

प्रशस्त ध्यानों में सुखदाता शुक्ल-ध्यान वह श्रेष्ठ रहा।
प्रधान तप में ध्यान रहा निज-निधि का निधान जेष्ठ रहा।।
सभी रसों में मधुर त्याग ही प्रथम रहा बुध श्लाघ्य रहा।
विज्ञ कहें बस यही साध्य है मुनियों का आराध्य रहा।।५५।।

अर्थ – ध्यानों में शुक्लध्यान, अन्तरग तपों में ध्यान आत्मनिधि का निधान कहा गया है तथा रसों में मधुररस् का त्याग सत्पुरुषों के द्वारा प्रशंसनीय प्रमुख त्याग कहा गया है।।५५।।

जिनागमेऽन्योन्यविरूद्धधर्मा, नया न मानाय तदंशतोऽतः।
परस्परं तत् प्रतिकूलमास्तां, कूलद्वयं वै सरितेऽनुकूलम्।।

प्रमाण के अनुचर हो चलते जिन शासन के नय सारे।
भिन्न स्वभावी रहें परस्पर किन्तु लड़ें नहिं दृग-धारें।।
भले नदी के एक कूल को अन्य कूल प्रतिकूल रहे।
किन्तु नदी को कुल दोनों मिल कूल सदा अनुकूल रहे।।५६।

अर्थ – जैन सिद्धान्त में परस्पर विरूद्ध नय सन्मान के लिये नहीं माने गये हैं क्योंकि वे वस्तु के एक अंश को ग्रहण करते हैं अतः वे परस्पर विरूद्ध भले ही रहें परन्तु वस्तु का पूर्ण स्वरूप कहने के लिये दोनों आवश्यक हैं जैसे नदी के दो तट परस्पर विरूद्ध रहते हुए भी नदी के लिये अनुकूल होते हैं।।५६।।

दुःखस्य मूलं तनुधारणं वा, दुःखेषु दुःखं तु मनोगतं तत्।
तत्रापि दुःखं च पराभवाद्धि, स्वस्यावबोधे न हि दुःखमस्ति।।

मूढ़ सुनो तुम तन धारण ही दुस्सह दुख का मूल रहा।
सब दुःखों में दुःख वही है मन को जो प्रतिकूल रहा।।
उसमें भी है महा भयानक दुःख पराभव का होता।
आत्मबोध हो फिर क्या दुख है अभाव भव-भव का होता।।५७।।

अर्थ – दुःख का मूल कारण शरीर का धारण करना है। दुःखों में भी मानसिक दुःख सबसे प्रबल है, उसमें भी पराभव से जो होता है वह अधिक प्रबल है। स्वकीय शुद्ध आत्मा के ज्ञान होने पर निश्चय से दुःख नहीं है।।५७।।

विमुक्तसंगा मनसा रमन्ते, तत्रैव चेद् ये न शिवीभवन्ति।
मुञ्चन्ति ये यद्यपि कञ्चुकं वै, नो पन्नगा निर्गरलीभवन्ति।।

बाहर से तो छोड़ दिया है धन मणि कंचन सकल अहा।
किन्तु उन्हीं में जाकर जिसका मन रमने को मचल रहा।।
शिव सुख उसको मिल नहिं सकता उसे तत्त्व क्या? खबर नहीं।
सर्प कांचली भले छोड़ता किन्तु छोड़ता जहर नहीं।।५८।।

अर्थ – परिग्रह का त्याग करने वाले जो मनुष्य मन से उसी परिग्रह में रमण करते हैं लीन रहते हैं – वे कल्याण के भाजन नहीं होते। जैसे सांप कांचुली तो छोड़ देते हैं परन्तु विष से रहित नहीं होते।।५८।।

सुखं सुखेषूत्तममात्मजं तत्, या पञ्चमी सा गतिरुत्तमास्तु।
प्रभासु सर्वासु मणिप्रभेव, ज्ञानेषु विज्ञानमदोऽक्षयं स्यात्।।

सभी सुखों में आत्मिक सुख ही उत्तम है श्रुति गाती है।
सब गतियों में पंचम गति ही उत्तम मानी जाती है।।
सब आभाओं में मणि-आभा मानव मन को भाती है।
सब ज्ञानों में अक्षय केवल-ज्ञान ज्योति सुख लाती है।।५९।।

अर्थ – सुखों में आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख उत्तम है। गतियों में पञ्चमगति–सिद्धगति उत्तम है, सब प्रभाओं में मणि की प्रभा उत्तम है। इसी प्रकार सब ज्ञानों में वह अविनाशी केवलज्ञान उत्तम है।।५९।।

यथामतिः स्याच्च तथागतिः सा, यथागतिः स्याच्च तथामतिः सा।
मतेरभावात्तु गतेरभावो, द्वयोरभावात् स्थितिराशु शैवे।।

जैसी मति होती है वैसी नियम रूप से गति होती।
जैसी गति होती है वैसी सुनो नियम से मति होती।।
अभाव मति का जब होता है गति का अभाव तब होता।
अभाव मति गति का होने से प्रकटित स्वभाव अब होता।।६०।।

अर्थ – जैसे मति होती है वैसी गति होता ह, जैसी गति होती है वैसी मति होती है, मति के अभाव से गति का अभाव होता है और गति–मति दोनों का अभाव होने से शीघ्र ही मोक्ष में स्थिति होती है।।६०।।

जलाश्रिता मञ्जुलवीचिमाला, स्तिम्भाश्रितं तद् भवनं यथास्तु।
ज्ञानादयो ये विनयाश्रिताः स्यु-र्गुणास्तथा तेऽपि वृथान्यथा स्युः।।

जल बिन कब हो जल में उठती लहरें जल के आश्रित हो।
गगन चूंमता भवन बना है स्तम्भों पर आधारित हो।।
उत्तमतम गुण ज्ञानादिक भी विनयाश्रित हैं शोभित हैं।
बिना विनय के वृथा सभी गुण इस विध मुनि संबोधित हैं।।६१।।

अर्थ – जिस प्रकार मनोहर तरंगों की सन्तति जल के आश्रित है उसी प्रकार वह प्रसिद्ध प्रासाद खम्भों के आश्रित है। इसी प्रकार जो ज्ञानादि गुण हैं वे विनय के आश्रित रहें, अन्यथा वे गुण नहीं हैं।।६१।।

अजेयसेनापि विना न राज्ञा, राजा किरीटेन विना न भातु।
न्यूना गुणास्ते विनयेन सर्वे, न भान्तु तस्माद्विनयः सताप्तः।।

शक्ति-शालिनी सेना की भी राजा से ही शोभा है।
मस्तक पर वर मुकुट शोभता राजा की भी शोभा है।।
नहीं शोभता बिना विनय के गुणगण का जो निलय बना।
इसीलिए बस सुधी जनों से पूजा जाता विनय घना।।६२।।

अर्थ – अजेय सेना भी राजा के बिना सुशोभित नहीं होती है, मुकुट के बिना राजा सुशोभित नहीं होता और विनय से रहित गुण भी सुशोभित नहीं होते। इसीलिये सत्पुरुषों ने विनय को प्राप्त किया है।।६२।।

अक्षप्रवृत्तेर्विषयोपलब्धि-, स्ततः कषायाश्च ततोऽस्तु बन्धः।
विधेर्गतिः स्याद् गतितोऽङ्गभारोऽ-प्यक्षाणि तत्र प्रकटीभवन्ति।।

ज्यों ही इन्द्रिय सचेत होती विषयों का बस ग्रहण हुआ।
कषाय जगती क्रोधादिक फिर विधि-बन्धन का वरण हुआ।।
विधि बन्धन से गति मिलती है गति से काया मिलती है।
काया में फिर नई इन्द्रियां नई खिड़कियां खुलती हैं।।६३।।

अर्थ – इन्द्रियों में प्रवृत्ति होने से विषयों की प्राप्ति होती है, उससे कषाय उत्पन्न होते हैं, कषायों से कर्मबन्ध होता है, कर्म से गति होती है, गति से शरीर धारण करना पड़ता है और शरीर में पुनः इन्द्रियां प्रकट होती हैं।।६३।।

पूर्वानुवृत्तिस्तु पुनश्चिरेयं, परम्परा वा तरुबीजवृत्तिः।
बीजे विदग्धे न तरोः प्रसूति-, र्दान्तेषु खेषु स्वत आत्मसिद्धि।।

फिर क्या पूछो वही-वही फिर चलती रहती चिर से है।
परम्परा है बीज वृक्ष से वृक्ष बीज से फिर से है।।
किन्तु बीज को दग्ध करो तो वृक्ष कहां फिर जीयेगा।
जीती, इन्द्रिय यदि तुमने तो शान्ति सुधा चिर पीयेगा।।६४।।

अर्थ – पूर्व पूर्व कारणों का अनुसरण करने वाली यह चिरकालीन परम्परा वृक्ष और बीज के समान है। अर्थात् वृक्ष से बीज होता है और बीज से वृक्ष होता है। बीज के जल जाने पर वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। इन्द्रियों का दमन होने पर आत्मा की सिद्धि स्वयं हो जाती है।।६४।।

जितेन्द्रियः संयमधारकः स, ध्याने विलीनः सहजं सदास्तु।
दुग्धे द्रुतं सा किल शर्करेव, दम्यानि सभ्दिः करणानि तस्मात्।।

जीत इन्द्रियां विजितमना है यम संयम ले संयत है।
आत्म-ध्यान में सहज रूप से वही लीन हो संगत है।।
यथा-शीघ्र ही घुल मिल जाती सुनो दूध में शक्कर है।
जीतो इन्द्रिय इसीलिए तुम विषयों का तो चक्कर है।।६५।।

अर्थ – इन्द्रियों को जीतने वाला साधु सरलता से ध्यान में उस तरह विलीन रहे जिस तरह दूध में शीघ्र ही शक्कर विलीन हो जाती है। इसलिये सत्पुरुषों के द्वारा इन्द्रियां दमन करने के योग्य हैं।।६५।।

ज्ञानान्न वृत्तान्न च भावनायाः, सद्ध्यानशक्तेस्तु निजात्मशुद्धिः।
पृथक् कृतं किं पयसो घृतं तत्, विनाऽगिन्ना वोपलतो हिरण्यम्।।

ज्ञान मात्र से मात्र चरित से मात्र भावना के बल से।
सिद्धि नहीं हो, होती शुचितम ध्यान साधना के बल से।।
समुचित है यह बिना तपाये नहीं दूध से घृत मिलता।
अनल योग पा, तप-तप कर ही कनक खरा भास्वत खिलता।।६६।।

अर्थ – स्वकीय आत्मा की शुद्धि ज्ञान से नहीं होती, चारित्र से नहीं होती और भावना से नहीं होती किन्तु ध्यान से होती है। क्या अग्नि के विना दूध से घी और पाषाण से स्वर्ण को पृथक् किया गया है? अर्थात् नहीं। कर्मक्षय के लिये ज्ञान, चारित्र और भावना के साथ ध्यान का होना आवश्यक है।।६६।।

विशेषसामान्यचितं सदस्तु, चितिद्वयेनाकलितं समं वै।
एकेन पक्षेण न पक्षिणस्ते, समुत्पतन्तोऽत्र कदापि दृष्टाः।।

विशेष और सामान्य गुणों से सहित वस्तु है शाश्वत है।
प्रभु के दोनों उपयोगों में एक साथ जो भास्वत है।।
फैला-फैला कर पंखों को पंछी नभ में उड़ता ओ।
किन्तु कभी ना दिखा किसी को एक पंख से उड़ता हो।।६७।।

अर्थ – वस्तु सामान्य और विशेष से तन्मय है अर्थात् द्रव्य–पर्याय से युक्त है। आत्मतत्त्व भी दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना–दोनों से एक साथ तन्मयीभाव को प्राप्त है। इस लोक में वे पक्षी क्या कभी एक पक्ष से उड़ते देखे गये हैं? नहीं।।६७।।

हिताहिते ते निहिते हि ते स्तो, निजात्मनि भ्रातरियं सदुक्तिः।
परप्रयोगोऽत्र निमित्तमात्रः, फलं ह्युपादानमसमं सदास्तु।।

हित हो अथवा अहित रहा हो निज आतम में निहित रहे।
सन्तों के ये वचन रहे हैं तुम सब को भी विदित रहे।।
पर का इस में हाथ रहा हो निमित्त भर वह कहलाता।
उपादान में फल लगता है सुनो ! गीत तुम यह गाता।।६८।।

अर्थ – हे भाई ! तेरे हित और अहित तेरी ही निजात्मा में निहित हैं यह सूक्ति अथवा सत्पुरुषों का कथन प्रसिद्ध है। पर–पदार्थ का प्रयोग तो इसमें निमित्त मात्र है फल तो सदा उपादान के समान ही होता है।।६८।।

माने तु मेयस्य सुखस्य दुःखे, बन्धे हि मुक्ते र्धनिनो दरिद्रे।
पात्रे तु दातुः पथिके पथोऽपि, मुख्यस्य गौणे सुदृशोऽपि चान्धे।।

ज्ञेय-मूल्य भी ज्ञान बिना नहिं दुख ही सुख का मूल्य रहा।
बन्ध बिना नहिं मुक्ति रुचेगी निर्धन धन का मूल्य रहा।।
कौन पूछता दाता को बिन पात्र, पथिक बिन पन्था को।
गौण हुये बिन मुख्य कौन हो लोचन-मालिक, अन्धा हो।।६९।।

अर्थ – मान के रहते हुये मेय–पदार्थ का, दुःख के रहते सुख का, बन्ध के रहते हुए मुक्ति का, दरिद्र के रहते हुए धनी का, पात्र के रहते हुए दाता का, पथिक के रहते हुए पथ का, गौण–अप्रधान के रहते हुये मुख्य का, अन्धे के रहते हुए सुलोचन का, अज्ञानी के रहते हुए ज्ञानी का, अहित के रहते हुए हित का, क्षुधा के रहते हुए भोजन का और दिन रात से युक्त इस देश में सूर्य चन्द्रमा का मूल्य है। सुनो!।।६९।।

विज्ञस्य चाज्ञेऽप्यहिते हितस्य, क्षुधाभिवृद्धौ भुवि भोजनस्य।
यथात्र देशे दिनरात्रियुक्ते, दिवाकरेन्द्वोः शृणु मूल्यमस्ति।।

अज्ञ रहा तब मूल्य विज्ञ का बढ़ा अन्यथा वृथा कथा।
शत्रु मित्र की याद दिलाता क्षुधा बिना है अन्न वृथा।।
उचित रहा यह जहां निशा हो तथा दिवस भी रहे जहां।
मूल्य निशाकर तथा दिवाकर का होता बुध कहें यहां।।७०।।

अर्थ – मान के रहते हुये मेय–पदार्थ का, दुःख के रहते सुख का, बन्ध के रहते हुए मुक्ति का, दरिद्र के रहते हुए धनी का, पात्र के रहते हुए दाता का, पथिक के रहते हुए पथ का, गौण–अप्रधान के रहते हुये मुख्य का, अन्धे के रहते हुए सुलोचन का, अज्ञानी के रहते हुए ज्ञानी का, अहित के रहते हुए हित का, क्षुधा के रहते हुए भोजन का और दिन रात से युक्त इस देश में सूर्य चन्द्रमा का मूल्य है। सुनो!।।७०।।

विवाहितः संश्च वरो गृही सोऽ-, विवाहिताद्धा व्यभिचारिणोऽपि।
पापस्य हानिश्च वृषे मतिः स्यात्, तथेतराद् यत् शृणु पापमेव।।

अविवाहित हो जीवन जीता व्यभिचारी भी बना हुआ।
गृही विवाहित उससे वर है शुभ आचारी बना हुआ।।
एक पाप को पल पल ढोता दुर्मति से दुर्गति होती।
एक पाप को नियमित धोता धर्म कार्यरत मति होती।।७१।।

अर्थ – व्यभिचारी अविवाहित मनुष्य की अपेक्षा विवाहित – स्वदारसंतोषी गृहस्थ श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता का कारण पाप की हानि और धर्म में रुचि है। इससे विपरीत कारणों–पाप की वृद्धि और धर्म में अरुचि से पाप ही होता है। यह तत्त्व की बात सुन।।७१।।

दाता दयालुः परदुःखवैरी, स श्रेष्ठिनः स्यात् कृपणात् प्रशस्तः।
अन्यान्यवित्तं ददतस्तु दातु-र्वरोऽप्यदाता नयमार्गगामी।।

कृपण सेठ से श्रेष्ठ रहा वह साधारण जीवन जीता।
दयालू दाता पर के दुख का वैरी उद्यम-जल पीता।।
प्रशस्त-दाता किन्तु नहीं जो अनीति-धन का दान करे।
दान बिना भी मान्य रहा वह नीति निपुण गुणवान अरे!।।७२।।

अर्थ – पर के दुःख को दूर करने वाला दयालू दाता कंजूष सेठ से अच्छा है। और दूसरे लोगों के धन–वस्तु को देने वाले दाता की अपेक्षा नीतिमार्ग पर चलने वाला अदाता श्रेष्ठ है।।७२।।

कनीयसा मे मनसा धृतो योऽ- मूर्तश्च विश्वैकगुरुर्विरागः।
श्रद्धादृशा वाधिगतोऽप्यतोऽहं, भक्तोऽपि धन्यो भगवांस्तु धन्यः।।७३।।

श्रद्धा की मम आंखों में प्रभु किसविध आ अवतार लिया।
कणभर होकर मन यह मेरा गुरुतम तुमको धार लिया।।
विराग हो तुम अमूर्त भी हो मूर्त रहा यह अन्य रहा।
धन्य रहे हो भगवन् तुम तो किन्तु भक्त भी धन्य रहा।।७३।।

अर्थ – अमूर्तिक, वीतराग और विश्व के अद्वितीय गुरु यतश्च मेरे तुच्छ हृदय के द्वारा धारण किये गये हैं अतः मैं भी धन्य हूं, भगवान् तो धन्य हैं ही।।७३।।

योग्यो विनेयो गुरुणा श्रमेण, नीतो गुरुत्वं किमु विस्मयोऽत्र।
पाषाणखण्डेऽपि विरागता सा, दिव्योदिता किं न हि शिल्पिनापि।।

महा विचक्षण योग्य शिष्य हो विनयी हो श्रमशील तना।
योग, योग्य गुरु का पा गुरु हो विस्मय क्या समझील बना।।
शिल्पी की वह शिल्पकला है जड़ भी चेतन हो जाता।
कठिन-कठिन पाषाण-खण्ड भी विराग केतन हो जाता।।७४।।

अर्थ – योग्य शिष्य यदि गुरु के द्वारा परिश्रम पूर्वक गुरुता को प्राप्त करा दिया गया है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? क्योंकि पाषाणखण्ड में भी शिल्पी के द्वारा क्या वह अलौकिक वीतरागता प्रकट नहीं की जाती।।७४।।

विवेकयुक्ता अलिवच्चरन्ति, सदावृता ये विषयैर्विचित्रैः।
हिताहितज्ञानविविक्तचित्ताः, कफे मृतास्ते खलु मक्षिकावत्।।

चमक दमक है जिनके चारों ओर विषय ये परे हुये।
निज में रमते सदा भ्रमर से बुधजन भ्रम से परे हुये।।
किन्तु हिताहित नहीं जानते पर में रत जड़ मरते हैं।
जैसे कफ में मक्खी फसती क्यों न विषय से डरते हैं?।।७५।।

अर्थ – विविध भोग सामग्रियों से सदा घिरे रहने वाले जो लोग विवेक सहित हैं वे भ्रमरों के समान योग्य विषयों का ही सेवन करते हैं और जो हिताहित के विवेक से शून्य चित्त वाले हैं वे कफ में फँसी मक्खियों के समान निश्चय से मृत्यु को प्राप्त होते हैं।।७५।।

दैवेऽनुकूले मुदितं जगद्वा,पापोदये दुःखितमेव भावात्।
आतापतस्तस्य रवेर्लता सा, या छायिकाऽऽरादतिमूर्च्छिता स्यात्।।

भाग्य खुला तो मुख खिलता है प्रायः जग यह मुदित दिखे।
पाप उदय में आता है तब मुख मुंदित हो दुखित दिखे।।
तपन ताप से नभ मण्डल औ धरती जब यह तप जाती।
पली छाव में मृदुल लता जो मूर्च्छित होती अकुलाती।।७६।।

अर्थ – भाग्य के अनुकूल रहते हुए जगत् स्वभाव से प्रसन्न होता है और पापोदय के रहते हुए स्वभाव से दुःखी रहता है। जैसे छाया में उत्पन्न हुई लता दूरवर्तिनी होने पर भी सूर्य के संताप से अत्यधिक म्लान हो जाती है।।७६।।

संप्राप्य चारित्रसुशीलयोगं,ज्ञानं स्वयं याति सुपूर्णतां तत्।
सुशाणयोगाद्धि मणेश्च मूल्यं,काष्ठां गतं सज्जनकण्ठभागम्।।

चरित-शरण में जब आता है शील-छांव में पलता है।
ज्ञान स्वयं यह अविनश्वर शुचि पूर्ण-ज्ञान में ढलता है।
उचित शाण पर उचित समय तक अनगढ़ हीरा जब चढ़ता।
सुजनों के वह कण्ठहार हो मूल्य चरम तक तब बढ़ता।।७७।।

अर्थ – चारित्र और सुशील का संयोग पाकर साधारण ज्ञान भी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। जैसे उत्तम शाणोपल का संयोग पाकर मणि का मूल्य इतना बढ़ जाता है कि वह सज्जनों के कण्ठप्रदेश को प्राप्त हो जाता है।।७७।।

विद्वेषभावोऽपि समं स्वजात्या, कृतज्ञता सा शुनि जन्मतोऽस्तु,
अत्यल्पनिद्रापि विधेर्विपाको, विचित्र एवं गदितं सुविज्ञैः।।

नहीं भूलता उपकारक को कृतज्ञता गुण धरता है।
श्वान सन्त सम कम सोता है निद्रा से अति डरता है।।
किन्तु द्वेष रखता है निशिदिन निजी जाति से खेद यही।
खेल खेलता कर्म कहाँ कब किस विधि खुलता भेद नहीं।।७८।।

अर्थ – कुत्ता में जन्म से ही अपनी जाति के साथ विद्वेष भाव भी है, उसके कृतज्ञता गुण भी है और अल्पनिद्रा भी है। विद्वज्जनों ने कहा है कि उसका यह कर्म का विचित्र ही योग है।।७८।।

सिद्धे स्वकार्ये सति कारणानि, बाह्येतराणीति तृणीभवन्ति।
सोपानमालापि विमोचिता सा,प्रारोहितात्मोन्नत - सौधकेन।।

उपादान हो निमित्त हो या गौण मुख्य की शर्त नहीं।
कार्य पूर्ण हो जाने पर फिर कारण से कुछ अर्थ नहीं।।
बढ़ते बढ़ते ऊपर चढ़ते अंतिम मंजिल वह आती।
एक एक कर क्रमशः पीछे सभी सीढ़ियां रह जाती।।७९।।

अर्थ – अपना कार्य सिद्ध हो जाने पर बाह्य और अन्तरङ्ग – दोनों प्रकार के कारण तृण के समान तुच्छ हो जाते हैं। जैसे अपने ऊंचे महल पर चढ़ चुकने वाले पुरुष के द्वारा सीढ़ियों की पंक्ति छोड़ दी जाती है।।७९।।

रागादिकं चात्मभवं दहेत् तत्, ध्यानं शुभं चात्मभवं समन्तात्।
वनोद्भवो वातसुदीप्तदावो, भस्मीकरोतीह वनं समस्तम्।।

अशुभ-भाव से जनित भयंकर कर्मों का वह नाश करे।
शुभ भावों में वास कर रहे ध्यान सही जिन दास! अरे!
पवन योग पा उद्दीपित वह होता दावानल वन में।
पूर्ण जलाता राख बनाता पूरण वन को वह क्षण में।।८०।।

अर्थ – आत्मा में उत्पन्न हुआ शुभध्यान अपने आप में होने वाले रागादिक भावों को सब ओर से जला देता है – नष्ट कर देता है। जैसे कि वन में उत्पन्न और वायु से प्रचण्डता को प्राप्त दावानल समस्त वन को भस्म कर देता है।।८०।।

आद्या विरागा द्वितया सरागा, दृष्टिर्जनानां स्खलितात्मभावा।
अभ्राश्रिता सा विमला ततश्चेत्, मलाभिभुता पतिताम्बुधारा।।

यदपि मनुज की मोह भाव से सुप्त चेतना होती है।
विराग पहली दृष्टि दूसरी राग रंगिनी होती है।।
बादल दल से गिरती धारा प्रथम समय में विमला हो।
ज्यों ही धरती को आ छूती धूमिल पंकिल समला हो।।८१।।

अर्थ – मनुष्य की दो दृष्टियाँ हैं एक विराग और दूसरी आत्मभाव से च्युत करने वाली सराग। विराग दृष्टि मेघाश्रित जलधारा के समान निर्मल है और दूसरी पृथ्वी पर पड़ी जल धारा के समान मलिन है।।८१।।

यथा पृथिव्यां करिणो नरा वा, दृष्टिं गताः श्रीफलमत्तुमीशाः।
हंसा हि मुक्ताफलभोजिनः स्युः, सिताः समित्या युतका ह्यनाशाः।।

ऐसा देखा जाता जग में सभी नहीं श्रीफल खाते।
मनुज तोड़ कर खाता हाथी गिरे हुये श्रीफल खाते।।
आशा के तो दास नहीं हैं समता धन के धनी बने।
मुक्ता खाता हंस मोक्षफल खाता है मुनि गुणी बने।।८२।।

अर्थ – जिस प्रकार पृथ्वी में दृष्टि–देखने की शक्ति को प्राप्त हाथी और दृष्टि–विचारशक्ति को प्राप्त मनुष्य श्रीफल–नारियल (पक्ष में लक्ष्मी का फल) खाने में समर्थ हैं उसी प्रकार सफेद हंस और समताभाव से युक्त आत्मावाले अनाश–आशारहित साधु, मुक्ताफलभोजी होते हैं। हंस मोती चुगते हैं और साधु मुक्तिरूपी फल का अनुभव करते हैं।।८२।।

प्रत्येकभावे निजपर्यया वै, प्रतिक्षणं ये प्रलय प्रयान्ति।
मुहुर्मुहु र्या तरलेव भूत्वा, तरङ्ग माला क्षणिका तडागे।।

पल-पल में प्रति पदार्थ-दल में अपनी अपनी पर्यायें।
नई-नई छवि लेकर उठती मिटती रहती क्षणिकायें।।
तरंगमाला तरल छबीली पवन चले तब जल में है।
झिल-मिल, झिल-मिल करती उठती और समाती पल में है।।८३।।

अर्थ – प्रत्येक पदार्थ में जो अपनी पर्यायें हैं वे प्रतिक्षण विलय को प्राप्त होती हैं। जैसे तालाब में जो तरंग की संतति है वह बार बार चञ्चल सी होकर विनष्ट हो जाती हैं।।८३।।

काले न कालेन न काचन श्रीः, सा चात्मतत्त्वं तु ततोऽस्तु तत्र।
समुद्यमोऽतोऽस्तु सदैव सद्भिः, कर्तव्य एवात्महिताय तत्त्वे।।

नहीं काल में नहीं काल से सुख मिल सकता ज्ञात रहे।
सुख तो निर्मल गुण है अपना आत्म तत्त्व के साथ रहे।।
हित चाहो तो मन वच तन से निज आतम में लीन रहो।
यही प्रथम कर्तव्य रहा है भूल कभी मत दीन रहो।।८४।।

अर्थ – कोई भी सुखादिकलक्ष्मी न किसी काल में और न किसी काल के द्वारा होती है क्योंकि वह आत्मतत्त्व है अतः आत्मा में ही हो सकती है। अतः सत्पुरुषों को आत्महित के लिये आत्म तत्त्व में ही सदा उद्योग करना चाहिये।।८४।।

ध्योयो न सेव्यो न हि चाप्युपेयो, ज्ञेयोऽपि कालो नियतोऽपि हेयः।
ध्येयः प्रमेयो निजशुद्धभावो प्युपेयको योऽत्र सुधासुपेयः।।

विज्ञ जनों के सेव्य नहीं है रहा काल यह ध्येय नहीं।
ज्ञेय भले हो नियत रहा हो किन्तु नियम से हेय सही।।
मोक्षमार्ग में शुचि चेतन ही सेव्य रहा है ध्येय रहा।
अमेय भी है उपेय भी है शान्त सुधासम पेय रहा।।८५।।

अर्थ – कालद्रव्य ध्येय नहीं है, सेव्य नहीं है, उपेय भी नहीं है, ज्ञेय होकर भी निश्चित ही हेय है। इस जगत् में जो निजशुद्धभाव है वह ध्येय है, प्रमेय है, उपेय है और सुधा के समान सुपेय है।।८५।।

त्यक्तुं न हीशा विषयान् विमूढा वदन्ति मुक्तिर्भवतोऽस्तु कालान्।
कषायभीमग्रहलुप्तबोधाः कुर्वन्ति किं किं न विनिन्द्यभावम्।।

विषय त्याग से डरते हैं जो मूढ़ रहे वे भूल रहे।
मुक्ति समय पर मिलती इस विध कहते हैं प्रतिकूल रहे।।
मोह-भूत के वशीभूत हो आत्म-बोध से रहित हुये।
कषाय-वश नर क्या नहिं करता पाप पंक में पतित हुये।।८६।।

अर्थ – जो विषयों को छोड़ने के लिये समर्थ नहीं हैं, ऐसे मोही मनुष्य कहते हैं कि संसार से मुक्ति काल आने पर स्वयं हो जायेगी। ठीक ही है, कषायरूपी भयंकर पिशाच के द्वारा जिनका ज्ञान लुप्त हो गया है ऐसे मनुष्य कौन कौन निन्दनीय पाप नहीं करते हैं?।।८६।।

स्वजातिवात्सल्यगुणं दधानः संभोगकार्ये न दिवा रतोऽस्तु।
तथापि काको जगताद्वतो नो मन्येऽत्र रूढिर्न हि चान्यहेतुः।।

निजी जाति के प्रति ईर्ष्या नहिं सदा अनुराग धरे।
दिन में तो सम्भोग-कार्य में ना रत हो ना राग करे।।
तदपि कहां है काक समादृत कारण का कुछ पता नहीं।
लगता इसमें रूढ़ि रही हो नीति हमें यह बता रही।।८७।।

अर्थ – यद्यपि कौआ अपने जाति के साथ वात्सल्य रूप गुण को धारण करता और दिन में रतिक्रिया में तत्पर नहीं रहता तथापि वह जगत् के द्वारा आदर को प्राप्त नहीं होता। इसमें रूढ़ि ही कारण है ऐसा मानता हूँ। अन्य कारण नहीं है।।८७।।

आम्रादित्रन्नो फलभारनम्रो गन्धान्वितं यस्य न मंजुपुष्पम्।
सेव्योऽत्र मिष्टेन रसेन सर्वै- रुद्दण्ड इक्षोर्ननु दण्डकोऽपि।।

आम्रादिक तरु सम जो होता सरस फलों से भरा नहीं।
फूल फूलता यद्यपि जिसमें गन्ध नहीं है हरा नहीं।
इक्षु दण्ड उद्दण्ड रहा है किन्तु रहा वह सरस महा।
इसीलिए आ-बाल वृद्ध सब जिसे चाहते हरस रहा।।८८।।

अर्थ – ईख का दण्ड यद्यपि आम्रादि वृक्षों के समान फलों के भार से नम्र नहीं होता और न जिसका सुन्दरफूल सुगन्ध से सहित है प्रकृति से उद्दण्ड – दण्ड रूप में खड़ा है (पक्ष में अविनीत) तथापि मिष्ट रस के कारण जगत् में सब के द्वारा सेवनीय है।।८८।।

गुणीभवन्तीह यतेर्जरायां तपांसि सर्वाणि च तान्विकानि।
अयत्नमुक्तं वृषमिष्टमन्नं मन्दाग्निना वाऽकृतभोजनेन।।

तन के आश्रित जितने तप हैं गौण सभी तब होते हैं।
जरा दशा में साधक मुनिजन मौन शमी जब होते हैं।।
जिसे रोग 'मन्दाग्नि' हुआ या जिसने भोजन पाया है।
इष्ट मिष्ट भोजन से अब ना अर्थ रहा प्रभु गाया है।।८९।।

अर्थ – इस जगत् मे वृद्धावस्था के समय साधु के शारीरिक तप गौण हो जाते हैं और मन्दाग्नि के कारण भोजन न कर सकने के कारण गरिष्ठ इष्ट भोजन बिना प्रयत्न के ही छूट जाता है।।८९।।

सुशास्तृयोगाद्धि जगत् सुखि स्यात्, स्याद्दुःखि भूरीतरतोऽप्यवश्यम्।
तानाश्रितान्नौ र्नयतेऽब्धितीरं, छिद्रान्विता घोररसातलं चेत्।।

उचित नाव के आश्रित जन को शीघ्र नदी का तीर मिले।
छिद्र सहित यदि नाव मिली तो घोर रसातल पीर मिले।।
शासक शासन उचित चलाता सबका वह संताप हरे।
अनुचित सो अभिशाप रहा है आप, पाप परिताप करे।।६०।।

अर्थ – जगत् उत्तम शासक के योग से सुखी होता है और कुशासक के योग से अत्यधिक दुःखी होता है। जैसे नाव आश्रिजनों को समुद्र के तट पर पहुँचा देती है, यदि वही नाव छिद्र सहित है तो भयंकर रसातल में पहुँचाती है।।६०।।

ज्ञातोऽनुभूतो यदि नात्मभाव- श्चेत्तस्य चर्चा कुरुते तपस्वी।
पित्तज्वरार्त पवनार्दितं वा, प्रलापयन्तं मनुते मनस्वी।।

बिन करनी कथनी में रत है तापस का भ्रम-भाव रहा।
ज्ञात नहीं अनुभूत नहिं क्या? शुचितम आतम-भाव रहा।।
पित्तकोप से ज्वर पीड़ित या सन्निपात का वह रोगी।
जैसा प्रलाप करता रहता उसे मानते बुध योगी।।६१।।

अर्थ – यद्यपि आत्मपदार्थ को न जाना है, न उसका अनुभव किया है तथापि साधु यदि उसकी चर्चा करता है तो विचारशील मनुष्य उसे बकवाद करने वाला पितज्वर अथवा वात से पीड़ित मानता है।।६१।।

गौश्चर्यया पापततौ च मौनोऽ- पृष्टोऽप्यमौनो निजधर्महानौ।
भीतोऽस्ति लोकैषणतोऽप्यभीतो, दुःखोपसर्गेषु विविक्तधर्मैः।।

जिस की चर्या 'गो' सम होती पाप कार्य में मौन रहा।
बिन पूछे निर्भीक बोलता धर्म कार्य हो गौण रहा।।
तत्त्वेषण में डूब रहा है लोकेषण से भीत रहा।
दुर्जन द्वारा दिये गये दुख उपसर्गो को जीत रहा।।६२।।

अर्थ – जो चर्या से गाय है, पाप समूह में मौन है, निजधर्म की हानि में बिना पूछे भी प्रतिकार करने वाला है, लौकिक ख्याति से भयभीत होने पर भी अधार्मिक मनुष्यों के द्वारा कृत दुःखदायक उपसर्गों में अभीत है।।६२।।

परोपकारी तरुवन्निरीह- स्तथोद्यमी यो रविचन्द्रशीलः।
सिंहोऽसतिवृत्त्याऽनिलवद् विसंगो, योगेन मेरुः क्षमया धरास्ति।।

शरणागत के शरण प्रदाता निरीह तरुसम उपकारी।
नियमित उद्यम में रत रहता रवि शशि सम है तमहारी।।
सिंह वृत्ति का धारक भी है संग रहित है हवा समा।
योगों में तो अचल मेरु है धरा बना है धार क्षमा।।६३।।

अर्थ – परोपकारी होकर भी वृक्ष के समान प्रत्युपकार की इच्छा से रहित है, सूर्यचन्द्रमा के समान उद्यमी है, वृत्ति से सिंह के समान निर्भय है, वायु के समान निष्परिग्रही है, ध्यान में मेरु के समान निश्चल है, क्षमा में पृथ्वी के समान सहिष्णु है।।६३।।

सत्यैकजिह्वो ऽप्यहिवद् विवासः, सुसंवृतात्मा भुवि कूर्मवद्वा।
सदृष्टलक्ष्योऽपि नदप्रवाहो, मयांच्यते संजयतात् स योगी।। (विशेषकम्)

अहि सम जिसका खुद का घर नहिं सत्य बोलता इक रसना।
जिसके तन मन सर्व-इन्द्रियां स्ववश कूर्म मम, परवश ना।।
देख चुका गन्तव्य स्थान को किन्तु नदी सम भाग रहा।
योगी वह जयवन्त रहे नित भजूं उसे मन जाग रहा।।६४।।

अर्थ – सत्यैकजिह्व है – सत्यवादी है, सर्प के समान निश्चित निवास स्थान से रहित है, पृथ्वी पर कछुवे के समान अपने आपको संवृत करने वाला है और निश्चित लक्ष्य से सहित हो लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नदी के प्रवाह के समान गतिशील है, वह साधु मेरे द्वारा पूजा जाता है, वह सदा जयवन्त रहे।।६४।।

अज्ञाः सदूरा ननु तेभपि विज्ञाः, स्वं नापि पश्यन्ति चलोपयोगाः।
स्वच्छेऽपि नीरे न मुखं सुदृष्टं, वातेन लोले बुधभारतीयम।।

विज्ञों का उपयोग चपल यदि निज को निहार नहिं पाते।
अज्ञों की क्या बात रही फिर पर में विहार कर जाते।।
सलित स्वच्छ हो सरवर का पर मुख उसमें नहिं दिख सकता।
जहां पवन से लहर उठ रहीं वहां नेत्र क्या? टिक सकता।।६५।।

अर्थ – अज्ञानी जन तो निश्चयतः आत्महित से अतिदूर हैं ही परन्तु चंचल उपयोग वाले जो ज्ञानी भी स्वकीय आत्म तत्व को नहीं जानते हैं – नहीं अनुभवते हैं वे भी बहुत दूर हैं क्योंकि वायु से चंचल स्वच्छ जल में भी मुख अच्छी तरह नहीं देखा गया है, ऐसा ज्ञानी जनों का कहना है।।६५।।